संजीवनी

खंड काव्य



सोहनलाल द्विवेदी

संजीवनी

(खण्ड काव्य)

सोहनलाल द्विवेदी

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : पांच रुपये (5.00)

राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006 द्वारा प्रकाशित
संस्करण 1984 : © सोहनलाल द्विवेदी
SANJEEVNI (Kavya), by Sohan Lal Dwivedi

भूमिका

राष्ट्रकवि पंडित सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के उन प्रमुख कवियों में हैं, जिनकी काव्य-साधना द्विवेदी-युगीन परिवेश में गांधीवादी आदर्शों से प्रेरित होकर आरंभ हुई थी और आज तक वह भारतीय संस्कृति के उदात्त जीवन-मूल्यों का संयोजन और संवर्धन करती हुई सतत गतिमान है। इनकी कविता का मूल स्वर राष्ट्रीय चेतना और देश-प्रेम है।

स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जुड़ी हुई अनेक उद्‌बोधनात्मक लम्बी रचनाएं भी उन्होंने लिखीं और कुछ पद्‌बद्ध रूपक शैली की रचनाएं तथा कई खंड-काव्य भी लिखे। इनमें 'वासवदत्ता', 'कुणाल' आदि रचनाएं विशेष रूप से प्रसिद्ध हुईं। उनकी रचनाओं में स्वतन्त्रता संग्राम की चेतना आदर्श अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। उनके काव्य में किसानों और श्रम-जीवियों के साथ सहानुभूति, युद्धों के लोक विध्वंसकारी प्रभाव की मीमांसा, राज्य-व्यवस्था में प्रजा का अधिकार, अहिंसक सत्याग्रह की शक्ति, विश्व-बंधुत्व और मानवतावाद के आदर्श आदि अनेक महनीय मानव मूल्यों की चैतन्य अनुभूति प्राप्त होती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ही तरह द्विवेदी जी में भी कालानुसरण की विशिष्ट क्षमता है। इसका अर्थ यह है कि उनमें देश और समाज की बदलती हुई भावनाओं एवं विकासमान काव्य प्रणालियों को ग्रहण कर उनमें सफलतापूर्वक रचना करने की शक्ति है। इस दृष्टि से उनको राष्ट्रकवि कहना सर्वथा उचित ही है।

द्विवेदी युग के बाद छायावादी काव्य का स्वर्ण युग आया। इस काव्य की दार्शनिक चिंतना, सांस्कृतिक नव्योत्थान की भावना और भाषा की लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शक्ति के अपूर्व उन्मेष ने काव्य कला को उच्चतम प्रकर्ष पर पहुंचा दिया।

मूल्य : पांच रुपये (5.00)

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006 द्वारा प्रकाशित
संस्करण 1984 : © सोहनलाल द्विवेदी
SANJEEVNI (Kavya), by Sohan Lal Dwivedi

भूमिका

राष्ट्रकवि पंडित सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के उन प्रमुख कवियों में हैं, जिनकी काव्य-साधना द्विवेदी-युगीन परिवेश में गांधीवादी आदर्शों से प्रेरित होकर आरंभ हुई थी और आज तक वह भारतीय संस्कृति के उदात्त जीवन-मूल्यों का संयोजन और संवर्धन करती हुई सतत गतिमान है। इनकी कविता का मूल स्वर राष्ट्रीय चेतना और देश-प्रेम है।

स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जुड़ी हुई अनेक उद्‌बोधनात्मक लम्बी रचनाएं भी उन्होंने लिखीं और कुछ पद्‌बद्ध रूपक शैली की रचनाएं तथा कई खंड-काव्य भी लिखे। इनमें 'वासवदत्ता', 'कुणाल' आदि रचनाएं विशेष रूप से प्रसिद्ध हुईं। उनकी रचनाओं में स्वतन्त्रता संग्राम की चेतना आदर्श अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है। उनके काव्य में किसानों और श्रम-जीवियों के साथ सहानुभूति, युद्धों के लोक विध्वंसकारी प्रभाव की मीमांसा, राज्य-व्यवस्था में प्रजा का अधिकार, अहिंसक सत्याग्रह की शक्ति, विश्व-बंधुत्व और मानवतावाद के आदर्श आदि अनेक महनीय मानव मूल्यों की चैतन्य अनुभूति प्राप्त होती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की ही तरह द्विवेदी जी में भी कालानुसरण की विशिष्ट क्षमता है। इसका अर्थ यह है कि उनमें देश और समाज की बदलती हुई भावनाओं एवं विकासमान काव्य प्रणालियों को ग्रहण कर उनमें सफलतापूर्वक रचना करने की शक्ति है। इस दृष्टि से उनको राष्ट्रकवि कहना सर्वथा उचित ही है।

द्विवेदी युग के बाद छायावादी काव्य का स्वर्ण युग आया। इस काव्य की दार्शनिक चिंतना, सांस्कृतिक नव्योत्थान की भावना और भाषा को लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शक्ति के अपूर्व उन्मेष ने काव्य कला को उच्चतम प्रकर्ष पर पहुंचा दिया।

द्विवेदी जी की कला जिस भाव, लक्ष्य एवं मूल हेतु से प्रेरित रही है, उसके निदर्शन उनकी 'वासदत्ता', 'कुणालगीत' आदि रचनाओं में मिलते हैं। 'संजीवनी' में द्विवेदी जी की काव्य-कला का अधिक विकसित स्वरूप प्रकाश में आया है। श्री अरविंद के अनुसार "किसी साहित्य की महानता सर्वप्रथम उसकी विषयवस्तु के मूल्य एवं महत्व में और उसके विचार की उपयोगिता तथा आकारों के सौंदर्य में निहित रहती है···।" गोस्वामी तुलसीदास भी यह मानते हैं कि लोकमंगलकारिणी कृति वही हो सकती है जिसकी वस्तु भली हो "भनिति भदेस वस्तु भलिबरनी, राम कथा जग मंगल करनी।" द्विवेदी जी भी इसी पथ के पथिक हैं, वे लोकमंगल-कारिणी काव्य रचना में निष्ठा रखने वाले कवि हैं। 'संजीवनी' काव्य में कथानक का चयन ही उनकी धर्म्य नैतिक मानसिकता का प्रमाण है।

इस काव्य की कथावस्तु जितनी गौरवशालिनी है, उसका विधान और विन्यास भी उतना ही कलात्मक और उदात्त है। इस काव्य के विभिन्न सर्गों का नामकरण उनमें वर्णित प्रमुख घटनाजों के आधार पर किया गया है। 'पुण्य प्रस्थान' सर्ग इस काव्य के मूल लक्ष्य और हेतु को बड़ी प्रभविष्णुता के साथ रूपायित करता है—

"साधना चली वनने को सिद्धि भुवन की,
प्रार्थना चली कल्याण लिए त्रिभुवन की।"

प्रत्येक सर्ग में वेगमय, ओजस्वी, नमनीय एवं प्रवाहशील छंद का प्रयोग किया गया है, जिसमें महाकाव्योपयुक्त संगीत व्याप्त मिलता है। वर्णन शैली में जो सरलता और स्पष्टता है वह अभिव्यंजना की दृष्टि से समृद्धि और निरर्थक अलंकारों के भार से मुक्त है। निरंतर स्वर-सामंजस्य का निर्माण करने वाली इस काव्य की रमणीयता आदि से अंत तक सहृदय को अनुरंजित रखती है।

द्विवेदी जी ने बड़े सतर्कतापूर्ण कौशल से इस कथानक को देवासुर-संघर्ष का जीवंत रूप प्रदान किया है। इस संघर्ष के धरातल दो हैं—एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। यह द्विविध संघर्ष कच के चरित्र के विकास के माध्यम से बड़े सहज रूप में चित्रित किया गया है। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण दोनों में उत्थान-पतन की कई मार्मिक परिस्थितियों की

सृष्टि की गयी है।

द्विवेदी जी की प्रतिभा का परिपाक विशेष रूप से प्रबंध काव्यकार के रूप में हुआ है। उन्होंने अपने प्रबंध-काव्यों में जीवन के किसी न किसी पूर्ण का प्रदर्शन बड़ी कुशलता के साथ किया है। इन प्रबंध-काव्यों के वस्तु पक्ष में विचारों, संवेदनाओं और जीवन दृष्टियों की अपेक्षित बहुलता, व्यापकता और गंभीरता मिलती है। उनके सभी प्रबंध-काव्य राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'संजीवनी' के विषय में निःसंदेह रूप से यह कहा जा सकता है कि उसमें काल-निर्पेक्ष राष्ट्रीय चेतना की प्रतिनिधि कला का सम्यक उन्मेष हुआ है। इस प्रबंध में प्रगीत, नाटकीयता आदि अनेक उपकरणों का समायोजन द्विवेदी जी ने कुशलता के साथ किया है।

यह काव्य जिस युग में प्रस्तुत किया जा रहा है उसमें साहित्य पर यथार्थ का एकछत्र साम्राज्य है। मैंने आरम्भ में मार्क्सवादी यथार्थ अर्थात् ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद की चर्चा की है। मार्क्सवादी यथार्थवाद ने प्रगतिवाद को प्रेरणा दी और अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद प्रयोगवाद नयी कविता आदि का नियामक बना। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि पंडित सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी स्वस्थ अनाविल सामाजिक मंगल से प्रतिबद्ध दृष्टि से गांधीवादी जीवनादर्श को अपने काव्य का प्रेरणा स्रोत चुना। वस्तुतः मैं इसको भी उनकी उच्चतर यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण मानता हूं। रावण जैसों के लिए जो आदर्श है राम के पदांकों का अनुसरण करने वालों के लिए वही यथार्थ है। इसलिए मेरा निश्चित मत है कि 'संजीवनी' आदर्शवादी यथार्थवाद की भूमिका पर रचा गया एक सफल और सशक्त काव्य है। इस कोटि की काव्य रचना हिन्दी में उपेक्षित होती आ रही है। आशा है कि 'संजीवनी'' से इस धारा को बल मिलेगा और हिन्दी में आदर्शवादी यथार्थवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सकेगी। इस धारा के उन्नायक के रूप में द्विवेदी जी का स्थान साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा।

—कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह

क्रम

स्वर्ग	7
संघर्ष	10
प्रयाण	20
तपोवन	27
संशय	32
प्रतिशोध	35
सिद्धि	46
अनुताप	57
अंतर्द्वन्द्व	60
अभिशाप	65
विराम	71

1. स्वर्ग

यह स्वर्ग लोक, अपवर्ग लोक,
यह दिवालोक आलोक लोक,
है जहां नहीं दुख-व्यथा, शोक,
आनंद मग्न जीवन निहाल ।

होता अहरह जय विजयघोष
भरता गौरव से सुयश-कोष
सुख बांट रहा है तृप्ति, तोष,
गर्वोन्नत सबके उच्चभाल ।

अंबर, भूतल, पाताल, अतल,
किसका प्रताप तप रहा प्रबल ?
त्रिभुवन में ऐसा कौन सबल ?
कोई न कहीं जिसके समान ?

दिग्पाल खड़े हैं जोड़ हाथ
है अनल, अनिल सब प्रणत माथ,
यम, वरुण, कुबेर बने सनाथ,
सुरपति सिंहासन दीप्तिमान !

गन्धर्व, यक्ष देवतावृन्द,
पढ़ते गरिमा के अमर छन्द
सुरपति मुसकाते मन्द-मन्द
जगमग मुगमग मणि-रत्न-द्वार।

यमराज देखते नयन दृष्टि,
संहार करें या करें सृष्टि,
किस पर करुणा की करें वृष्टि
अर्पित पद-तल पर हीर-हार।

किन्नरियां अप्सरियाँ प्रमत्त,
वंकिम कटाक्ष-दृग अधर रक्त,
छेड़ती राग-रागिनी मत्त,
सुरपति महान, सुरपति महान।

घिर गई पलक में प्रलय घटा
उल्लास हास सारा सिमटा,
वासन्ती मादक दृश्य हटा,
सबका न समय रहता समान।

असुरों का परम पराक्रम बल,
है रौंद रहा प्रतिपल सुरदल
अब त्राहि-त्राहि स्वर है संबल।
नित देवों की हो रही हार।

इन्द्रासन के मणि दीपमंद,
पड़ते न सुनाई नृत्य छन्द,
आनंद बन गया निरानंद,
दुःस्वप्न सदृश था समाचार।

छाई चिन्ता आशंका मन,
आ सकता है ऐसा भी क्षण,
लें असुर छीन सुर सिंहासन,
रुक गये सभी उत्सव-विधान।

सिंहासन का यह महामोह,
अबतक न मिटा है वन विमोह,
संघर्ष निरंतर, द्वेष-द्रोह,
सुख शान्ति कहां से मिले त्राण?

2. संघर्ष

कौन त्रिभुवन का
बनेगा युद्धकर अधिराज,
असुर या सुर प्रतिस्पर्धा
थी परस्पर आज।

इधर थे सुरगुरु वृहस्पति,
उधर शुक्राचार्य,
सूत्रधार बने भयंकर
युद्ध था अनिवार्य।

देवताओं की पराजय
हो रही थी नित्य,
क्षीण बल-तप-तेज होते
क्या कभी कृतकृत्य।

कर रहे थे असुर
सुरदल का विपुल संहार,
त्रास, नाश, विनाश था
सर्वत्र हाहाकार।

असुर करते थे सुरों
पर घोर अत्याचार,
लगा कँपने विश्वमंडल,
उठी प्रलयी ज्वार।

खुल गया जैसे त्रिलोकी—
का कुपित हो नेत्र,
भस्म होनेलगा अगजग
सकल संसृति-क्षेत्र।

असुर मर-मर पुनः जी
उठते समर सन्नद्ध,
नई ऊर्जा, ऊष्मा,
तूणीर-शर कटिबद्ध।

रुंड - मुंड - कबंध से
भर गया जल-थल-व्योम,
समर - तांडव - कांड से
निस्तब्ध दिनकर-सोम।

देख उस दिन देवकुल का
आदि अन्त विनाश,
शोक से नीला पड़ा
अबतक धवल आकाश।

वेदना जब तोड़ देती
कभी सीमा - बिन्दु,
चेतना जगकर दिखाती
मुक्ति का सुख-सिंध ।

है जहां मझधार,
उसके सन्निकट ही कूल,
शूल उगते हैं जहां,
उगते वहीं पर फूल।

खोजती थी अहर्निश
दिशि-दिशि सुरों की दृष्टि,
कौन अनघ अनिंद्य अकलुष,
बचा सकना सृष्टि ?

हुई नभ वाणी, सुना सबने,
लगाकर ध्यान,
"कच कवच बन देवताओं—
का करेगा त्राण !

ऋषि कुमार स्वयं बृहस्पति—
के नये अवतार,
सिद्धकर संजीवनी तरणी
करेगा पार !"

गए सत्वर देवगण,
ऋषिपुत्र के आवास,
देवगुरु का दिव्य आश्रम
उमड़ता उल्लास।

वेद शाखा सुम का था
चल रहा अध्याय,
न्याय-दर्शन-उपनिषद् में
निरत ऋषि समुदाय।

प्रणति ने पाया सभी का
अमित आशीर्वाद,
चल पड़ा सुर-असुर कुल का
तुमुल रण संवाद।

देवकुल के छिप सके
पल भर न अन्तर्भाव,
ज्वार बन उमड़े प्रभावी
प्रेरणा प्रस्ताव—

"हे वृहस्पति-पुत्र तुम
ऋषि अंगिरा के पौत्र,
त्याग-तप के वंशधर,
प्रज्ञा-प्रभा के गोत्र।

रक्त में जिसके प्रवाहित
ब्रह्मकुल का तेज,
दुर्मदों के मद जहां
बनते सिमट निस्तेज।

वेदवाणी सूत्र-शाखा
युगयुगों से प्राप्त,
उपनिषद्-दर्शन-ऋचायें
धमनियों में व्याप्त।

तुम्हीं में शम-दम-नियम,
संयम, जितेन्द्रिय वीर !
पाशुपति शर सदृश
सकते गहन तमको चीर !

तुम उठो तो उठे जग में
नया देव-समाज,
स्फूर्ति, ऊर्जा संचरित हो
देव-सत्ता आज।"

कच प्रबोधित सुन रहे—
अभ्यर्थना - अनुरोध,
देवकुल के ध्वंस का
था दुखद; दु:सह बोध।

पूर्वजों का स्वाभिमानी
जगा गौरव-गर्व,
किया जिसने दानवों का
दलन, दुर्मद खर्व।

डूबते को मिल गई,
जैसे पकड़ती बांह,
कहा कच ने दृढ़ स्वरों में
सुदृढ़ था उत्साह—

"मैं उठा लूंगा हथेली पर
निखिल ब्रह्मांड,
चूर्ण कर दूंगा दनुज कुल—
रक्त-पूरित भांड।

कर सकूं यदि मैं नहीं
अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण,
तो पितामह-पिता का
होगा न ऋण सम्पूर्ण।

अमर को हो मरण का भय,
यह नियति का व्यंग,
शौर्य का उपहास जिसका
रहे रिक्त निषंग।"

देवकुल आश्वस्त अब,
सब आपदा थी दूर,
प्राप्त कर जयश्री चले
जैसे समर में शूर।

बरस कर कादंबिनी,
करुणाम्बु की रसधार,
दग्ध मरुथल में खिला दे
माधवी शृंगार।

जय पराजित को मिले,
अभिशप्त को वरदान,
ध्वंस में निर्माण विहंसे,
पतन में उत्थान।

सहमते हों, सकुचते हों,
जब अधर पर बोल,
चरण की गति रुक गई,
पथ पर न सकती डोल।

धैर्य-साहस जा रहा हो
छोड़ मन का साथ,
झुक गये हों, दीनता से
हीनता के साथ।

देव वह दुर्दैव को दल,
बदल दे दुर्भाग्य,
फूंक दे भवितव्य पर
कर्तव्य का अनुराग।

कवच कच का था दृढ़ संकल्प,
मुदित ऋषि-मुनि दे आशीर्वाद,
उदित सौभाग्य, दुरित दुर्भाग्य,
जिसे मिल जाये पुण्य प्रसाद।

शकुन शुभ संजा रहे थे पंथ,
लिये मंगल घट से परिपूर्ण,
देवबालाएं थीं आ रहीं,
लिए नवदूर्वादल फल-फूल।

लहरती रह-रह अतुल उमंग,
उमड़ता अचल आत्मविश्वास,
करूंगा करतल में आमलक,
सिद्धि बन जाती सतत प्रयास।

बड़ी वह मंगलमयी मुहूर्त,
उमड़ता जब मन में आनंद,
सिद्धियां आतीं अपने आप,
जहां किंचित न चित्त में द्वन्द्व !

सोम ने दिया अतुल सौन्दर्य,
सूर्य ने दिया अमित आलोक,
तुम्हारी जय यात्रा हो पूर्ण,
लोक में रहे न कोई शोक।

वरुण ने कर पावन अभिषेक,
भर दिया रोम-रोम में स्फूर्ति,
समुत्सुक दिग्पालों ने कहा—
"लक्ष्य की होगी निश्चित पूर्ति।"

अनिल ने देकर प्रबल प्रवाह,
बढ़ाया अन्तर का उत्साह,
अनल ने देकर ऊर्जा ओज,
जगाई जीवन शक्ति अथाह।

मिले अन्तर तम का आशीष,
सफलता का अग्रिम अवदान,
असंभव भी संभव बन जाय,
शक्ति शब्दों में छिपी महान।

शब्द से होता शक्ति निपात
शब्द से होता वज्राघात,
शब्द से बहता सुधा-प्रवाह
शब्द से सृजन प्रलय-आघात।

असंशय, अभय, अचल, अविराम,
जहां पर बन जाता संकल्प,
निमिष में कर लेता है पार,
पथिक पथ की सीमा युगकल्प।

बड़ों की चरण-धूलि का अर्घ्य,
बड़ों के पद का प्रणत प्रणाम,
उठा देता विनयी का शीश
साजकर मुकुट मंजु अभिराम।

तुम्हारा पथ मंगलमय हो।
तुम्हारी यात्रा की जय हो।

उषा लेकर के कुंकुम थाल,
करे र्चचित केशर से भाल,
निशा से नक्षत्रों की माल,
सजाये दीपावलिनी भाल।

दिवा निशि नव स्वर्णोदय हो।
तुम्हारा पथ मंगलमय हो।

जहां हो भव-आतप की बांह,
नील नीरद बन जाये छांह,
बढ़ाये पग मन का उत्साह,
सुगम बन जाये दुर्गम राह।

किसी से कहीं नहीं भय हो।
तुम्हारा पथ मंगलमय हो।
तुम्हारी यात्रा की जय हो।

3. प्रयाण

कच चला, चला उत्साह स्वयं वपूबर कर,
बहता था समय प्रवाह, बहा रस निर्झर।
संकल्प चला बनने को शिव औ संदर।
निष्पाप बनाने को धरती औ अंबर।

साधना चली बनने को सिद्धि भवन की,
प्रार्थना चली कल्याण लिए त्रिभुवन की।
विश्वास चला लाने को सुधा गरल से,
इतिहास चला बनने को श्रृंग अचल से।

पुरुषार्थ चला प्रण को परिपूरण करने,
परमार्थ चला वेदना विश्व की हरने।
अनुरोध चला करने को दुःख निवारण,
प्रतिशोध चला बन विजय-घोष का कारण।

चिन्तन-अवगाहन-मनन चला उलझाता,
दृढ़ जटिल ग्रंथियों की कड़ियां सुलझाता।
अन्तर्लोचन खुल गए, खुला अवचेतन,
सत-असत विवेचन, पाप-पुण्य अनुशीलन।

असुरों की चिर आसुरी वृत्ति निश्चय है,
इससे ही होता उनका अस्त-उदय है।
सुर वही नहीं जो सुर का वपु धरते हैं,
पर असुरों से भी अधम कर्म करते हैं।

दुर्बुद्धि-दाह, दुःख दुरभि-संधि दुलराती,
सद्बुद्धि सौंपती सुख-संपत्ति की थाती।
आसुरी करों में जाकर शासन-सत्ता,
झुलसाती जगजीवन का पत्ता-पत्ता।

इस विषधर के विषदंत तोड़ना होगा,
टूटती सृष्टि के सूत्र जोड़ना होगा,
अब परित्राण सुकृति, स्वधर्म ही मेरा,
दुष्कृति लगाए नहीं जगत में डेरा।

किसलिए युद्ध, वह कौन? विमोहिनि सत्ता,
वह सर्वशक्ति संचारिणि लोक-महत्ता।
धरती है रूप अनेक रंगिणी बनकर,
अमृत बल्लरी, कहीं भुजंगिनी बनकर।

जीवन तो केवल सिंह जिया करते हैं,
दिग्गज पछाड़कर राज किया करते हैं।
कोई न किसी के शीश मुकुट धरता है,
केहरि अपना अभिषेक स्वयं करता है।

मैं पुनः लौटकर स्वर्ग नहीं जाऊंगा,
धरती पर ही मैं खींच स्वर्ग लाऊंगा।
दानव दल का बल गर्व खर्व कर दूंगा,
प्रतिदान मान इन्द्रासन कभी न लूंगा।

अब यहीं बसेंगे प्रलयंकर शिवशंकर,
पंचानन ब्रह्मा, विष्णु लोक मंगलकर।
विजयी की शोभा श्री, है क्षमा-अहिंसा,
विजितों की शोभा-युद्ध, विजय, प्रतिहिंसा।

आया विराम चिंतन में, गहन मनन में,
गुरुधाम सन्निकट लगता था कानन में।
वृषपर्वा की नगरी अब दूर नहीं है,
गंतव्य मार्ग रुक जाता यहीं कहीं है।

लगता है आश्रम यहीं निकट है सुन्दर,
जा रहीं रंभाती धेनु उधर ही सत्वर।
है शान्त हो रहा जगती का कोलाहल,
नीरव, निर्जन संध्या का फैला आंचल।

असुरपुर जा पहुंचा सुरपुत्र,
चकित सब कच कुमार को देख।
नील नीरद में जैसे खिंची
तड़ित की स्वर्णिम उज्ज्वल रेख।

यहां क्यों आयाहै सुर - दूत,
कौन पथ, क्या इसका गन्तव्य।
बढ़ी चिन्ता जिज्ञासा विकल
छिपाये क्या नीरव मंतव्य।

निकट आए कुछ असुर कुमार,
देखते रूप बन गए चित्र।
देखते अपलक मुख की ओर,
दिव्य आभा की ज्योति पवित्र।

सौम्य सौन्दर्य खड़ा प्रत्यक्ष,
तृप्त हो गए नयन औ प्राण।
सहज ही स्वागत में बढ़ गए,
सभी का था उद्ग्रीव प्रयाण।

"कौन तुम हो सुन्दर सुकुमार,
कहां जाना तुमको किस देश?
भटक कर इधर आ गए कहां,
तुम्हारी यात्रा का उद्देश्य?"

दिया उत्तर कच ने, "मैं चला,
स्वर्ग से इस धरती की ओर।
जहां रहते हैं शुक्राचार्य,
सुयश है जिनका अमित्त अछोर।

बड़ी आकांक्षा मन में जगी,
बनूं मैं भी उनका ही शिष्य।
कृपा की छोर मुझे मिल जाय,
संवारूं जीवन-जन्म-भविष्य।"

असुर-सुत देख अतिथि का रूप,
हो गए थे पहले ही मुग्ध।
सुना स्वर-लहरी का संगीत,
और भी थे सब मंत्र-विमुग्ध।

देखता कोई स्वर्णिम केश,
देखता कोई मणि केयूर।
अनसुना, अनदेखा यह रूप,
थिरकते थे मन बने मयूर।

ले चले आगत को मिल सभी,
हृदय में थे स्वागत के भाव।
बना निर्वैर सशंकित चित्त,
विनय में होता बड़ा प्रभाव।

उठ रहा अग्निहोत्र का धूमं,
वट तले बैठे शुक्राचार्य।
जटाएं रहीं धरा को चूम,
तपस्वी युग-युग से प्राचार्य।

दीर्घ पलकें थीं बनीं सुदीर्घ,
सतत ऋषि थे समाधि में लीन।
दिगम्बर, व्याघ्राम्बर आसीन,
अंग पर वस्त्र मात्र कोपीन।

पास में था आहट-संकेत,
उमड़ता आता चला समाज।
खुल गये नयन नील-रक्ताभ,
कौन असमय में आया आज।

प्रणत कच कर साष्टांग प्रणाम,
दिया अपना परिचय अविराम—
"वृहस्पति-पुत्र, अंगरिष-पौत्र,
खोजता आया हूँ गुरुधाम।"

"वत्स तुम बन्धु वृहस्पति-पुत्र,
स्नेह है जिनसे मुझे अपार।
देखकर तुमको विनत प्रसन्न,
प्रार्थना करता हूँ स्वीकार।

शरण आगत को दे स्थान,
मुक्त हो करे ज्ञान का दान।
वही गुरु भव में वंद्य वरेण्य,
शास्त्र-श्रुति का है यही प्रमाण।

रहो निर्भय, निश्चल, निश्शंक,
असुर होते हैं बड़े सशंक।
तुम्हारा अशुभ न कोई करे,
कि जिससे मुझको लगे कलंक।

4. तपोवन

ऋषि-आश्रम में जीवन लहरा,
हो गया तपोवन हरा-भरा,
जन-जन थी सुर-सुत की चर्चा,
स्वागत - सत्कार - समायोजन,
सम्मान अतिथि का था क्षण-क्षण,
बन गया तरुण सब की अर्चा।

ऊषा-संध्या का गो-दोहन,
कानन-कानन बन गो-चारण,
देता मन को विश्राम परम,
तरु-लतिकाओं में जल सिंचन,
कितना सुखमय कर देते क्षण,
घुल जाता है दिन भर का श्रम।

आनंदित था गुरुकुल-गुरुजन,
गुरुदेव मुदित पा शिष्य रतन,
कच बने स्नेह के आलम्बन,
आश्रमवासी, पुरजन, परिजन,
सेवा में कितना सम्मोहन,
उल्लास-हास से भरा भुवन।

निर्जन वन में रस की धारा,
बह उठी भिगोती जग सारा,
पतझर में ज्यों मधुमास खिला।
तरु-तरु में नूतन फूल खिले,
सुमनों में सौरभ घुले-मिले,
तृण-तृण को नवलावण्य मिला।

कच और देवयानी मिलकर,
जाते प्रातः-संध्या खुलकर,
करने को यज्ञ हवन-पूजन।
दोनों के मन अनुराग जगा,
दोनों में प्रीति पराग पगा,
दो देह, एक थे प्राण रमण।

शुक-पिक पुलकित करते किलोल.
तरु-लतिकाओं में डोल-डोल,
उठती थी मधुरिम स्वर लहरी।
मन उड़ने लगता यहाँ-वहाँ,
पाने को मधु जाने न कहाँ,
सुख-निद्रा आँखों में गहरी।

प्रमुदित मन ही मन ऋषि-कन्या,
अपने को समझ रही धन्या,
देखा नयनों ने प्रथम तरुण।
जिसके प्राणों की सुरभि-श्वास,
बनती भुज-बंधन प्रणय-पाश,
कर देती आनन अरुण-अरुण।

ऋषि-कन्या पथ पर खड़ी-खड़ी,
ले विकल प्रतीक्षा, अश्रुलड़ी,
मुखपर थी धूप-छाँह गहरी,
देखा करती थी अपलक पथ,
जा सके दृष्टि जिस सीमा तक,
थे नयन बने पथ के प्रहरी।

आ जाता जब कच लिए धेनु,
बज उठती मन की मधुर वेणु,
गुंजित हो जाते कुंज-कुंज,
नत मुख निहारती रक्तानन,
रतनारे बन जाते लोचन,
खिल उठते सरसिज पुंज-पुंज।

जब कभी न कच आश्रम आए,
खिंचती चिन्ता की रेखाएं,
होती थी विकल देवयानी,
खो गया कहां मेरा सहचर,
क्या भटक गया है इधर-उधर,
ऋषि-कन्या बनती बौरानी।

कुंजों में जाकर कभी-कभी,
बैठते युगल जग भूल सभी,
निरखा करते कुसुमित कानन,
सुन पपिहा की पी-पी पुकार
बजते प्राणों के तार-तार,
सुन पड़ती थी उर की धड़कन।

कच सकुच-अचकचा कर कहता—
"कोई क्या साथ नहीं रहता ?
मैं रहता हूं नित विभ्रम में,
कैसे पहुंचूं द्रुत-द्रुत आश्रम,
तुमको करना न पड़े कुछ श्रम,
मैं हाथ बंटा लूं उपक्रम में।"

गल-बांह डालकर कभी-कभी,
कहती—"तू कितना निर्मोही ?
रहता तुझको मेरा न ध्यान,
मैं कैसे समय बिताती हूं,
कैसे मैं समय सिराती हूं,
कुछ भी होता तुझको न भान।"

बीतने लगे सुर-सुत के दिन,
पक्षों-मासों में जुड़ अनगिन,
करते गुरुकुल की शुश्रूषा,
नव समिधा-तृण,नित कुसुम चयन,
नित गो-दोहन, नित गो-चारण
भरते पूजन को मंजूषा ।

यज्ञाग्नि कभी हो नहीं मंद,
चिन्ता रहती थी चिर अमंद,
चलते नियमित आश्रम के क्रम,
गुरु की शिक्षा, गुरु की दीक्षा,
पूरी करती सारी इच्छा,
देता मन को विश्राम परम।

आकुल करता एकाकीपन,
चाहता जाय मिल कहीं स्वजन,
हो जीवन की रिक्तता पूर्ण,
सुख-दुख में जिसका बढ़े हाथ,
सुख-दुख भोगे जो साथ-साथ,
तो लगे नहीं जगती अपूर्ण।

ऋषि-कन्या अब तक थी निस्संग,
पाकर समवय का सुखद संग,
उछली-फिरती थी हिरणी-सी,
निर्जन में जाग उठा जीवन,
था मिला युगों में सुहृद स्वजन,
लहरों पर तिरती तरणी-सी।

मलयज बहता था मंद-मंद,
पढ़ता अनुरागी छंद-बंद,
बौराये लगते दिग्दिगंत,
किसका मन उठता नहीं डोल,
सन-सुन पिक के माधवी बोल,
श्री-सौरभ जब बिखरे अनंत।

5. संशय

कच देव-पुत्र गौ-रांग वर्ण,
कमलायत लोचन, केश स्वर्ण,
उन्नत ललाट, दृढ़ वृषभ कंध,
आजानु बाहु, वपु स्वर्ग-गंध,
मोहते चराचर सृष्टि-बंध,
सौभाग्यवान के दीर्घ कर्ण,
कच देव-पुत्र गौरांग वर्ण,

स्वर्णिम कुन्तल की लहर-लहर,
देखते पथिक थे ठहर-ठहर,
पलकों पर अलकों की हिलोर,
रोमांचित करती पोर-पोर,
उठ राशि-राशि छवि की झकोर,
रह जाती मुखपर बिखर-बिखर,
स्वर्णिम कुन्तल की लहर-लहर,

वाणी में वीणा-आकर्षण,
करती रहती पिपूष वर्षण,
श्रुति-पट को मिलता सुरस-दान,
हो जाते शीतल तप्त प्राण,
उत्सुक-उत्कंठित मग्न ध्यान
मृग मुग्ध पास आते क्षण-क्षण,
वाणी-वाणी का आकर्षण।

असुरों में जगा बड़ा संशय,
सुर-सुत में गुरु का हो प्रत्यय !
जाने कब आये घोर प्रलव।
चिंता-शंका का हुआ उदय,
कैसे इस भय से बनें अभय !
प्रति-क्षण चर्चा का यही विषय,
असुरों में जगा बड़ा संशय।

शंका उपजाती है शंका,
आकुल करती है आशंका,
सुर-पुत्र असुर गुरु प्रीति-पात्र
यह छद्म-वेष-धर बना छात्र,
रह गया न संशय लेश मात्र,
ढाहे न बिभीषण बन लंका
शंका उपजाती है शंका।

आचार्य शुक्र के पूज चरण,
अनुदित-अनुभव कर रहा वरण।
इसमें कोई छलना-रहस्य,
घर में भेदी कोई अवश्य,
चर-अचर-जीव-जड़ प्रीति वश्य,
बन जाती श्रद्धा हृदय-हरण,
आचार्य शुक्र के पूज चरण।

दनुजों ने मिल सोचा उपाय,
जिससे चिन्ता का शूल जाय।
कर दें न इसे क्यों मिल समाप्त,
जो विष बनकर है रहा व्याप्त,
अरि-अग्नि न लघु है वाक्य आप्त।
मिट जाय सदा की हाय-हाय,
दनुजों ने मिल सोचा उपाय।

6. प्रतिशोध

दूर कच आश्रम के अति दूर,
मगन मन गो-चारण में लीन,
कर रहा था बटतल विश्राम,
बज रही थी मन की मृदु बीन !

तरंगित मन में विविध विचार,
साधना होगी कब यह पूर्ण,
पुनः कब जाऊंगा सुरलोक,
सिद्धि संजीवनि ले सम्पूर्ण।

धन्य है, यह जीवन भी धन्य,
हरित वन प्रान्तर का सहवास,
धेनु वत्सों का मुग्ध किलोल,
बढ़ाता है मन में उल्लास।

स्रवित स्तन से मां का नेह,
उमड़ता आता बनकर क्षीर,
समुत्सुक नयन, समुत्सुक श्रवण,
वत्स करते पयपान, अधीर।

स्नेह का बहता रहता स्रोत,
सभी जीवों में एक समान,
भले ही कह न सके मुंह खोल,
नयन से मिल जाती पहचान।

वन्य खग-मृग आकर के पास,
सूंघते देह गंध की श्वास,
पाणि-पल्लव का कर स्पर्श,
ले रहे नव सुख की उच्छ्वास।

पड़ रही थी अलकों पर धूप,
तरुतले सघन द्रुमों को भेद,
चमकता कच का आनन ओज,
झलकता मुक्ताकण-सा स्वेद।

बड़ा ही था पावन-निष्पाप,
वन्य-प्रान्तर का पुण्य प्रदेश,
वहीं पर छिपकर आया पाप,
क्रूर असुरों ने किया प्रवेश।

गरज कर कहा एक ने—"कौन,
सो रहा है वट-तरु की छांह ?"
सकुच कच संभ्रम हुआ सचेत,
उठाता अलसाई सी बांह।

कृतांजलि बोला–"अनुचर एक,
चराता हूं गुरुकुल की गाय,
करें आदेश, करूं शिरधार्य,
आपकी वांछित कृपा सहाय।"

युगों से सुर-गुरु का अरि-भाव,
बढ़ाता था मन में उत्साह,
शोध लेने का आया समय,
चूक अब होगी भूल अथाह।

दानवों का किंचित भी त्वेष,
त्वरित बन जाता है विस्फोट,
नृशंसों को देता आनन्द,
किसी पर आघातों की चोट।

प्रकृति सहमी सिहरी चुपचाप,
अवश हो सुनती थी संलाप,
दिशाएं, पवन सभी निस्पन्द,
विवश लखने को क्रूर कलाप।

क्रोध में बह जाता है बोध,
बधिर बन जाया करते कान,
कौन, क्या किससे कहता कहां,
नहीं रहता है किंचित ध्यान।

दनुज-दल ने पा समय-सुयोग,
झपट सुर-सुत को लिया दबोच,
पलक में अंग-अंग कर भंग,
लिया द्रुत प्राण-पखेरू नोंच।

रक्त-रंजित धरती का अंक,
हुआ थर-थर कम्पित आकाश,
उड़ गया था पिंजड़े का हंस,
पड़ा निर्जीव पिंड बन ग्रास।

व्याघ्र, वृक, शूकर, गृद्ध, श्रृगाल,
पा गए अनायास आहार,
नहीं, अवशेष रहा कुछ लेश,
रक्त सूखा बन हाहाकार।

सूर्य से देखा गया न दृश्य,
तिमिर का अंचल मुख पर तान,
मलिन मुख अस्ताचल की ओर
कर गया दिन में ही प्रस्थान।

आ गया अग्निहोत्र का समय,
लौट आयीं गुरुकुल में गाय,
न लौटा कच, अब तक है कहां,
बड़ी चिन्ता सब थे निरुपाय।

न समिधा-कुश-कुसुमांजलि मिली,
शुक्र की भृकुटि हो गयी वक्र,
देवयानी हो गयी अधीर,
समझ असुरों का कुटिल कुचक्र।

हृदय कंपित, कंपित थे अधर,
हो गया था तन संज्ञाहीन,
नयन में थी अविरल जलधार,
न खुलते थे स्वर वाणीहीन।

देवयानी ने सनुनय कहा—
"पिताजी अन्तर्यामी आप,
ध्यान करके देखें तो कहां,
पा रहा देवपुत्र संताप।"

धैर्य देते ऋषिवर ने कहा—
"न बेटी, इतनी बनो अधीर,
जान लूंगा मैं सभी रहस्य,
पोंछ लो दृग से बहता नीर।

करूंगा आवाहन मैं अभी,
चराचर के अन्तर को चीर,
प्रकट होगा मेरा प्रिय शिष्य,
सामने अक्षत लिए शरीर।"

अधर स्फुरित, मुखर था मंत्र,
गगनभेदी स्वर था गंभीर—
"जहां भी हो आओ सुर-पुत्र !
प्रतीक्षा में हैं सभी अधीर।"

पलक में परिवर्तित था दृश्य,
खड़ा कच पद तल किए प्रणाम,
दे रहे थे ऋषि आशीर्वाद—
"जियो शत् शरद् पुत्र अभिराम।"

लहरने लगी अगरु औ धूप,
यज्ञ की लेकर पावन गन्ध,
शंख-ध्वनि, भेरी-झांझ-मृदंग,
बनाती जड़-चेतन निर्बन्ध।

मुदित ऋषि-कन्या प्रमुदित अंग,
देखती मुखमयंक की ओर,
भाव में विस्मय, मुग्ध-विभोर,
बन गए सबके नयन चकोर।

गुरु कृपा पाकर परम कृतज्ञ,
देखता था कच चारों ओर,
कभी ऋषिवर का आनन दीप्त
कभी ऋषि-कन्या हर्ष विभोर।

बढ़ा गुरु चरणों में अनुराग,
दिया जिसने नवजीवन दान,
और जो इतनी ममतामयी,
करूंगा क्या उसको प्रतिदान।

देवयानी का देखा रूप,
खड़ी जैसे करुणा साकार,
अंक भर लेने को निश्शंक,
रही स्नेहांचल सुखद पसार।

विचरता अब तो कच स्वच्छन्द,
आत्मविश्वास अचल था साथ,
किसी से क्या भय, चिन्ता कौन,
कि जिस पर कालजयी का हाथ।

कुंज वन में लहरा उल्लास,
हुआ सुमनों में नया विकास,
मलय-मारुत मंथर बह चला,
खिला तृण-तृण कण-कण नवलास।

प्रफुल्लित धेनु, प्रफुल्लित वत्स,
देखतीं रह-रह कच की ओर,
आ गया जैसे धर नवरूप,
यहां वृन्दावन का चितचोर।

दनुज-दल हुआ बहुत उद्विग्न
देख करके कच को जीवन्त,
पुनर्जीवित अरि का पुरुषार्थ,
और भी होता ऊर्ध्व अनन्त।

अग्नि का नन्हा-सा भी स्फुलिंग,
भस्म कर देता है संसार,
सर्प-शिशु का भी ईषत् दंश,
स्वयं बन जाता है संहार।

मंत्रणा की सबने संयुक्त,
सभी ने निश्चित की नव युक्ति—
"अतल जल में कच को दें डाल,
न जिससे मिले कभी भी मुक्ति।"

मंत्रणा की सबने मिल गूढ़,
खिल गई आनन पर मुस्कान,
मिल गई जैसे औषध हाथ,
कुचलने को विषधर उत्थान।

न जाने कोई कहीं रहस्य,
चले फिर दनुज लिए उत्साह,
कभी इस राह, कभी उस राह,
न जिससे पाये कोई थाह।

पाप के कँपते रहते पाँव,
खोजता रहता है एकान्त,
लोक से रहता है भयभीत,
तिमिर का शिविर निरापद प्रांत।

विजन बन में कच सांयकाल,
चुन रहा था पूजन के फूल,
असंशय, अभय, अजेय, अज्ञेय,
प्राप्त ऋषि का आशिष अनुकूल।

बढ़े फिर दनुज लिए दल साथ,
एक निर्बल का करने अन्त,
रुक गया पवन, झुक गया गगन,
सिहरने लगा अवाक् दिगंत।

न कच को हुआ कहीं कुछ भान,
किया किसने कब-कहां प्रहार,
उड़ गया प्राण-पिंड से जीव,
एक ही प्राणान्तक पा वार।

उठा शव शिव-सा सुन्दर रूप,
अतल जलनिधि में किया विलीन,
हो गए मुदित, क्षुधित ज्यों व्याघ्र,
मत्त कुंजर को कर आधीन।

उड़ी ज्यों ही संध्या-गोधूलि,
देवयानी आ खोले द्वार,
प्रतीक्षा अपलक करने लगी,
अभी तक लौटा नहीं कुमार।

आ गईं पर्णकुटी में धेनु,
बहातीं अश्रु उदास-उदास,
न पल भर का भी लगा विलंब,
लगा कँपने मन का आभास।

"कुछ नहीं और—कुछ नहीं और,
किया है दनुजों ने संहार,
आह मेरा कितना दुर्भाग्य,
दानवों का निर्मम व्यवहार।"

हो गई ऋषि-समाधि भी भंग,
धेनु-कुल करता आर्त-गुहार,
धधकता आंखों में था क्रोध,
प्रलय के झरते थे अंगार।

"दानवों की दानवी प्रवृत्ति,
लगे रखने मुझसे दुर्भाव,
अधम-पामर-जड़-निष्ठुर-नीच,
बदलते अपना नहीं स्वभाव।

हिंस्र-पशु हिंसा में आसक्त,
घूमते बनकर रक्त-पिपासु,
उचित है इनको दण्ड-विधान,
मिटे जगती का संकट-त्रास।"

देवयानी की दशा निहार,
स्वयं नयनार्द्र द्रवित ऋषिराज,
पितृ वात्सल्य उमड़ने लगा,
मातृ ममता उमड़ी है आज।

मंत्र पढ़ किया जहां आह्वान,
जलधि के अतल गर्भ को चीर,
आ गया देव-पुत्र प्रत्यक्ष,
लिए शुचि सद्यः स्नात शरीर।

7. सिद्धि

दनुज-दल के प्रयास थे व्यर्थ,
हुए पर मन में नहीं निराश,
बिजय मिलती है उसको नहीं,
बैठता जो बन निपट हताश।

किसी का भय न कहीं आतंक,
दनुज - दल उच्छृंखल - उद्दाम
क्रोध का दावानल - अविवेक,
भस्म करता अपना ही धाम।

दनुज-दल की थी भीषण हार,
देखकर सुर-सुत का सम्मान—
"भले ही रहें न शुक्राचार्य,
असह था आत्मदंश-अपमान।

बड़ा है दर्प, सिद्धि का गर्व,
खर्व होगा जप-तप-व्रत सर्व,
हमारा नूतन मारण-मंत्र,
मनायेगा विजयोत्सव-पर्व।

तपोधन निश्छल-निर्मल चित्त
सहज विश्वासी, साधु-स्वभाव,
हलाहल भी कर सकते पान,
जहां स्वजनों का प्रीति प्रभाव।

हमारी कूटनीति का चक्र,
बनेगा इतना मारक वक्र,
न जबतक होगा प्राणोत्सर्ग,
जान पायेंगे कभी न शुक्र।"

मंत्रणा की सबने मिल गूढ़—
"बनाकर के सुर-सुत को क्षार,
क्षार को मदिरा में दें घोल,
मनायें प्रीतिपान त्योहार।

समक्ष मधु-पर्क सोमरस-पान,
पियेंगे ऋषि मानिक मकरंद,
पुनर्जीवन देने का मंत्र,
स्वयं ही हो जायेगा मन्द।

प्रतिष्ठा, प्राण, जन्म, निर्माण,
विवशता होगी तब दुःसाध्य,
नहीं आराधक होगा कहीं,
रहेगा कहीं न नहीं आराध्य।"

मनाते उत्सव बजते वाद्य,
झाँझ, ढप, भेरी, ढोल, मृदंग,
चरण उन्मत्त थिरकने लगे,
दनुज-दल पाकर नई उमंग।

ध्वजाएं अरुण अर्घ्य का थाल,
लिए पूजन के विविध विधान,
चले वृषपर्वा के गिरि शृंग
गूंजता था नभ - भेदी गान।

कहीं शृंगी थे, कहीं विषाणु,
लिए था कोई रक्त-कपाल,
दानवों के कण्ठों पर पड़ी
थिरकती थी मुण्डों की माल।

व्याघ्र चर्माम्बर के कोपीन,
बनाते रौद्र रूप विकराल,
रक्तनेत्रों में थे अंगार,
जल रही धू-धूं रक्त-मशाल।

स्वयं ही उन्मुख हो आचार्य,
देखते शोभा - यात्रा रंग,
इधर ही आता भक्त - समाज,
लिए उपहार-हार उत्संग।

नृत्य करते दे-देकर ताल,
बज रहा डमरू, भैरव-नाद,
पूज्य चरणों में नत शिर सभी,
चल पड़ा समारोह-संवाद—

"तपोनिधि के आराधन हेतु,
भक्तगण लाए अनुपम पान,
करें स्वीकार प्रीति उपहार,
सुवासित मदिरा का मधुपान!

उठ रही मधु की मादक गंध,
बनाती ध्यान-धारणा अंध,
समुत्सुक - विस्फारित थे नेत्र,
बन रहा था संयम निर्बन्ध।

असुरगुरु का तो था अभ्यास,
मदिर - मदिरा का मादक मोह,
पी गए एक घूंट में सभी,
पूर्ण घट बड़ा प्रेम - सम्मोह।

दनुज - दल का नव हर्षोल्लास,
छू रहा था उठकर आकाश,
मनाते विजय उठा जयघोष,
गए अपने-अपने आवास।

न कच को पाकर अपने पास,
म्लान ऋषि-कन्या सज्ञा-हीन,
त्यागकर नीर, अन्न एकान्त
पड़ी, वह अर्ध चेतना लीन।

देवयानी का रुदन विलाप,
लगा देने ऋषि को संताप,
"कहा ऋषि ने रुचिकर है नहीं
तुम्हारा बारंबार विलाप।

तुम्हारा तुच्छ तरुण में मोह,
नहीं यह ऋषि-कन्या शृंगार,
बना मर्मान्तक तुम्हें बिछोह,
असंभव अब कोई उपचार।

किन्तु, मेरे जीवन की श्वास,
रही है अनुदिन घड़ियां हेर,
न जाने कब पंछी उड़ जाय,
व्यथाएं ढाती हैं अंधेर।'

निशाभर ऋषिवर रहे अचेत,
उषा लाई चेतन संकेत,
यज्ञ करने को जैसे चले,
हुआ मानस भी पूर्ण सचेत।

पढ़ा ऋषि ने आवाहन मंत्र,
कहां हो ? आओ देवकुमार !
ऋषि उदर से स्वर गूंजा मंद—
"यहां मैं, बन्द देहरी द्वार।

आपको ज्ञात नहीं गुरुदेव,
. मुझे कर भस्म बनाकर क्षार,
बनाया दनुजों ने मधुपान,
जिसे पी गए योग-अवतार।

रहा हूं नरक-यातना भोग,
आपही कर सकते उद्धार,
आप ही करुणा के अवतार,
सर्व सामर्थ्य सिद्धि आगार।"

"तुम्हारी सेवा में दिनरात,
दे दिया जीवन जिसने दान,
उचित क्या यही उसे प्रतिदान,
स्वयं देखे अपना निर्वाण।

स्वयं में विवश दीन लाचार,
देवयानी बोली असहाय,
"न जननी का स्नेहांचल आज,
अंक भर देती मुझे सहाय।"

"समस्या विकट द्विधा है बड़ी,
"करूं कैसे अनुप्राणित देह,
देह धर पाये तब सुरपुत्र
बनूंगा कब मैं स्वयं विदेह।

तुम्हारी अभिलाषा क्या यही,
पिता की ममता का उपहार,
तुम्हें प्रिय मिले, अप्रिय हो गया,
तुम्हें अपना ही जनक उदार?"

"नहीं, यह नहीं, यह नहीं तात!
घोर पातक एकांग विचार,
तुम्हें तजकर न चाहिए स्वजन,
साक्षी पारब्रह्म साकार।"

"भले मेरे जीवन की श्वास
आज ही हो जाये निस्पंद,
प्राण-पंछी हो जाये मुक्त
तड़पता जो पिंजरे में बंद!

तपोधन अचल, पलक भर मौन,
शेष तो अब है एक निदान,
खोलना होगा गुप्त रहस्य,
युगों का संचित मंत्र विधान।

पुत्र का होगा यह कर्तव्य,
पिता में करे प्रतिष्ठित, प्राण।
तुम्हारे पूरे दोनों हाथ,
पिता-प्रिय का हो मिलन महान।"

नयन में अश्रु, अधर पर हास,
देवयानी रोमांचित गात,
एकटक खड़ी मूर्तिवत् जड़ी,
खिल उठा मुरझाया जलजात।

"तपोधन अचल, पलक भर मौन,
दे रहा हूं मैं दीक्षा आज,
शेष तब तो है एक निदान
मंत्र से करें प्रतिष्ठित प्राण।"

चक्षु उन्मीलित गूंजी ऋचा,
पढ़ा ऋषि ने आह्वान मंत्र,
उदर को चीर प्रकट सुरपुत्र,
सिहर निश्चेष्ट हुआ तनतंत्र।

एक क्षण पहले जो जीवंत
शव बना था साधना-शरीर,
तपस्वी तरुण बना सिद्धार्थ,
खड़ा पदतल, प्रणिपात्र अधीर।

"एक ही ध्यान, एक अवधान,
मंत्र था मुखर शब्द-संधान,
लगी पलभर की अचल-समाधि,
मंत्र ने किया प्रतिष्ठित प्राण।

उठ पड़े मुद्रित आंखें खोल,
तपस्वी जैसे सद्यःस्नात,
दूर दुःस्वप्न, काल की रात्रि,
खिला था पावन पुण्य प्रभात।

देवयानी कच शुक्राचार्य,
देखते एक दूसरी ओर,
छा गया त्रिभुवन में आनन्द,
चराचर लहरी हर्ष-हिलोर

अंधेरे में जल जाये दीप,
भटकते को मिल जाये पंथ,
साधु हो सुखी, साधना सफल,
प्राप्त करके जैसे सद्ग्रन्थ।

नील नीरद बरसाये सुधा,
खिल उठे मरुथल में ही पद्म।
देवता के आने पर बने,
गृही का जैसे पावन सद्म।

विधाता ने की जो भी भूल,
संवारे कवि देकर छविदान,
स्वर्ण में सुरभि, सुरभि में स्वर्ण,
धनी हो चिर निर्धन विद्वान।

"दिया तुमको संजीवनि मंत्र,
युगों की संचित निधि दुर्भेद्य,
मृतक में करो प्रतिष्ठित प्राण,
सृष्टि को मिले सृजन नैवेद्य।"

"दनुज दल का दारुण विद्रोह,
तुम्हारे लिए बना वरदान,
वत्स कच, हुई तपस्या पूर्ण,
बनो चिरजीवी आयुष्मान्।"

स्वयं मैं पा पातक परिवेश,
सिद्धि को करता रहा अशुद्ध,
शक्ति असुरों की बढ़ती रही,
बुद्धि अब मेरी हुई प्रबुद्ध।"

"तुम्हारे पुण्य स्पर्श से तात।
मिटी मेरी भी अन्तर्दाह,
युगों की घृणा-बैर-विद्वेष,
बह गया बनकर अश्रु-प्रवाह।"

"असुरदल का अविरल आतंक,
मिटे जगती से पापाचार,
युद्ध विद्रोह कलह उत्पात,
न खोले नित्य मृत्यु के द्वार।"

"मिटे मदमत्सर का व्यामोह,
व्याप्त हो अगजग में चिर शान्ति,
साधु के हाथों में जा सिद्धि
करे भव में नव मंगल-क्रान्ति।"

8. अनुताप

अब आज मुझे हो रहा बोध,
अनुताप धधक बन रहा क्रोध।
मैं आश्रम गुरु आचार्य प्रवर,
प्रज्ञा प्रकांड चेतना प्रखर,
बन व्यंग हंस रही है मुझ पर,
मैं बना स्वयं अपना विरोध,
अब आज मुझे हो रहा बोध।

मैं स्वयं बना कुल का कलंक,
मस्तक पर चन्दन बना बंक,
अनजाने ही आकर अनिष्ट,
ले गया छीन मेरा विशिष्ट,
आचरण बना अन्तर अशिष्ट,
नि: शंक बन गया मन सशंक,
मैं स्वयं बना कुल का कलंक।

यदि करता मदिरा नहीं पान,
तो क्यों अनिष्ट होता महान।
मद की मिलती है जहां गन्ध,
हो जाते मद पी नयन अन्ध,
टूटते त्वरित साधना बन्ध,
तनता क्यों विभ्रम का वितान।
यदि करता मदिरा नहीं पान।

रे मन! तेरी यह महा भूल,
तू प्रेय मात्र मानता फूल,
प्रेयस् पर श्रेयस् बारबार,
संहार न कर जीवन सुधार,
मिलता न जन्म यह बार-बार।
मत बो निज पथ पर शूल-शूल,
रे मन! तेरी यह महा भूल।

मानव तन है साधना सदन,
जिसके सहस्रदल प्राण-पद्म,
प्रभुका मन्दिर, विभुका निवास,
जीवात्म जहां पाता विकास,
बनता अखंड उज्ज्वल प्रकाश,
तू अपने से तो कर न छद्म,
मानव तन है साधना सद्म।

दुर्बोध बन गया था सुबोध,
अब आज मुझे हो रहा बोध।
प्रतिशोध बना कर्तव्य आज,
चुकता कर दूंगा मूल ब्याज,
जिससे न कलंकित हो समाज,
कोई न रहे जग में अबोध।
अब आज मुझे हो रहा बोध।

अपने अतीत को देख-देख,
मैं खींच रहा हूं अमिट रेख।
जिसने मदिरा पी कभी कहीं,
वह ब्रह्म तेज का अंश नहीं,
सब धर्म-कर्म का ध्वंस वहीं,
इसमें न रही अब मीन-मेख,
मैं खींच रहा हूं अमिट रेख।

अनुशोचन - अनुरोदन अरण्य,
खोजता शांति सुख-पथ वरेण्य।
जागो ऋषि के सोये विवेक !
जीवन के सुगत सुकृत अनेक,
अब भी व्रतधारी बने टेक,
बन जायें चिन्ताएं नगण्य।
अनशोचन - अनुरोदन अरण्य।

अन्तर्द्वन्द्व

कैसी उड़ान-अविराम, अनंत, अनश्वर।
निशि-दिन पंखों पर समय विहग उड़-उड़ कर,
करता रहता है पार काल नीलाम्बर
क्षण, पक्ष, मास, संवत-शताब्दि मन्वतर

जो छंद चला लय बनकर, द्रुतगति बनकर
दाता विराम विश्राम कभी यति बनकर,
चाहता प्रवासी लौट चलूं निज घर को,
सिद्धियां, ऋद्धियां लिये अभीप्सित वर को

रुक गये चरण, जिस शरण-वरण को पाकर,
है बिन्दु बन गया सिन्धु-पूर्ण रत्नाकर।
वे कुंज करील कछार बिटप बल्लरियां।
जिनमें गाती अब भी सुधि की किन्नरियां,

गुरुकुल, गुरुका, गोधन, पुरजन औ परिजन
भूलते भुलाये नहीं कभी स्नेही जन
युग-युग के सहचर खाग-मृग ये बन-उपवन
कैसे तोड़ूं अनुराग-राग के बन्धन,

वे धेनु वत्स, गोचारण भूमि सुहावन,
अब भी वैसी ही लगती है मनभावन।
कैसे इन सबसे विदा आज मागूंगा,
जिनका कृतज्ञ उनको कैसे त्यागूंगा,

उन असुरों का उपकार नहीं कुछ कम है,
वे कहां विरोधी बने? कहे जो भ्रम है,
उनका विरोध विद्रोह निरन्तर पीड़न,
लग रहा आज जैसे हो कौतुक क्रीड़न।

उनकी निर्ममता बनी किसी की ममता,
बाधायें-विघ्न-विरोध जगाता क्षमता,
यदि असुर न निशि-दिन यों पीड़ा पहुंचाते,
ऋषि में करुणा के भाव कहां से आते।

युग-युग का छिपा रहस्य नहीं फिर खुलता,
दृढ़ अचल हिमाचल विचल न होकर डुलता,
हो द्रवित देवयानी देवी कल्याणी,
निर्झरिणी बनती नहीं, कठिन पाषाणी।

उसकी करुणा की कोर नहीं यदि मिलती,
कामना कली तब नहीं कभी भी खिलती,
हैं शुक्राचार्य स्वयं भू के शिवशंकर,
पी स्वयं हलाहल, मुझे दिया अमृतवर।

क्या आज देवयानी से दीन कहूंगा,
आजीवन उपकृत पदतल प्रणत रहूंगा,
जीवन विसर्ग कर दूं, सौ जन्म निछावर,
तो भी प्रतिदान न पूरा होगा तिलभर।

मेरे जीवन की दात्री भाग्य विधात्री,
धृति, क्षमा, दया, करुणा, ममता की धात्री
यह सिद्धि सकल उसकी करुणा का फल है,
वह सर्व मंगला, निर्मल गंगा-जल है।

उस तपस्विनी से क्या ये शब्द कहेंगे।
वाणी न रहेगी, केवल श्रवण रहेंगे।
जो हुए सुकृत में मेरे कभी सहायक,
मेरे प्रवास-सहवासी, व्रत उन्नायक,

उन सबका है आभार शीश आंखों पर,
गाते जिनका गुणगान विहग शाखों पर।

था शुभ्र चांदनी बिखरी नील गगन में,
फैलाती अपना इन्द्रजाल त्रिभुवन में,
तरु-तरु सम्मोहित तृण-तृण डोल रहा था,
स्वप्निल आंखों की निद्रा खोल रहा था।

बह चला समीरण मन्द-मन्द पद धर-धर,
जैसे कवि लिखता छन्द-बन्द नव रसभर,
गिरि-शिखरों पर हिम राशि-राशि मुसकाती,
जब चारु चन्द्रिका लोट-लोट इठलाती।

शारदी लिए कर-पल्लव कोकाबेली,
थी घूम रही वन-वन बन नई नवेली।
था बना धरा का अंचल सुघर सलोना,
कर गया अभी ज्यों कोई जादू-टोना।

जड़ बन जाते चेतन, झरती निर्झरिणी,
पाने को व्याकुल सिंधु-मिलन की तरिणी।
नीलोदधि उर्मिल विधु को चूम रहा था,
उन्मत्त तृप्त विस्मृति में झूम रहा था।

तब चली देवयानी बन वन की रानी,
कहने को अपनी युग-युग प्रणय कहानी।
योगी समाधिरत पा आसन था अविचल,
स्फटिक खंड पर पुंडरीक ज्यों निर्मल।

कुसुमायुध ज्यों परिमल प्रत्यंचा खींचे,
धर कुसुमवाण, केशर कुंकुम से सींचे।
ऐसे ही सुमनांजलि भर युगल करों में,
थी प्रणत पुजारिन चढ़ा रही चरणों में।

योगी की भंग समाधि, स्वप्न जाग्रत था,
अभ्यंतर से आकर्षक, वाह्य जगत था।
जिस देवी की अर्चना किया पदवंदन,
है वही कर रही सब कुछ आज समर्पण।

वह आराध्या ही लिए अर्घ्य की अंजलि,
आराधिका बनी बैठी है स्वयं कृतांजलि।
कैसा यह मधुमय व्यंग्य, नियति का विस्मय,
होता संक्रामक स्नेह, नहीं, कुछ संशय।

कैसा विचित्र संयोग, विपर्यय क्रम है,
जल में पर्वत, पर्वत में जल उद्‌गम है।
वैरागी पाकर, बड़भागी अनुरागी,
अनुरागी पाकर मन बनता वैरागी।

10. अभिशाप

खड़ी है कच के सम्मुख आज,
देवयानी अति पुलकित गात,
उड़ रही स्नेह-सुरभि की गंध;
खिले हैं प्राणों के जलजात।

कर रही अनुभव जैसे स्वयं,
साधना कर बन बैठी सिद्धि,
उसी की हुई परीक्षा पूर्ण,
सफलता बनती स्वयं प्रसिद्धि !

आज अनुराग कर रहा विनय—
"तजो हे वनवासी वैराग्य,
आर्य की हुई तपस्या पूर्ण,
सेविका का है यह सौभाग्य !

जगाया जो. तुमने अनुराग,
कहीं वह बने न आज विराग।
विकल होता रहता है हृदय
सुलग उठती संशय की आग।

आज ही आई है वह घड़ी,
प्रीति का मुझे मिले प्रतिदान,
तुम्हारे भुजबंधन में बंधे,
देवयानी पाये सम्मान।

करो प्रिय, विगत दिनों की याद,
हुए कितने प्राणान्तक वार,
सदा मैं सदा तुम्हारी रही,
मिली सौ-सौ संकट कर पार।

न जाने कितने व्याकुल वर्ष,
इसी आशा में किए व्यतीत,
प्रलय की घिरी घटाएं जहां,
प्रणय की हुई वहीं पर जीत।"

देख कच, ऋषि-कन्या की ओर,
प्रकंपित देह, प्रकंपित प्राण,
कहे क्या वाणी, जड़ थी बनी,
न मिलता शब्दों को संधान।

"देवि ! यह सत्य, परम है सत्य,
तुम्हारी करुणा का अवदान,
जिया मैं मर-मर कर सौ बार,
तुम्हारा है उपकार महान !

बड़ा होता मेरा सौभाग्य,
तुम्हारा पा जीवन भर संग,
सृष्टि में रचता नूतन सृष्टि,
लहरता तृण-तृण में रस-रंग।

धर्म की मर्यादा का मोह,
मध्य में उठ, कर रहा निषेध,
तोड़ दूं कैसे बंधन सभी,
रहा जो रोम-रोम को भेद?

किन्तु यह होगा बड़ा अनर्थ,
समर्पण गुरु-पद होगा व्यर्थ,
स्वयं तुम बुद्धिमती हो शुभे!
समझने में हो सभी समर्थ!

कहेगा क्या सारा संसार,
ब्रह्मचारी कच, गुरु का शिष्य,
नीच पामर था कितना अधम,
देवयानी को बना हविष्य।

किया जिसने मुझपर विश्वास,
जिलाया देकर जीवन-श्वास,
पाप कितना होगा परिताप,
उसी का प्रत्यय करूं विनाश!

तुम्हारे हैं सौ-सौ उपकार,
तुम्हारे हैं अनगिन आभार,
न इनसे उऋण हो सकूं कभी,
भले ही जन्मू सौ-सौ बार।

देवयानी कल्याणी देवि !
न देती यदि तुम मेरा साथ,
न जाने कब पिंजरे का हंस,
उड़ गया होता बना अनाथ।

तुम्हीं ने देकर जीवनदान,
प्रतिष्ठित किया देह में प्राण,
स्वयं मैं जो कुछ भी हूं आज,
तुम्हारा ही नूतन निर्माण !"

"समझ लूं तो क्या इसका अर्थ,
स्वार्थ की पूर्ति मात्र था इष्ट,
स्नेह-संवाद, प्रणय के गीत,
सभी छलना थे, घोर अनिष्ट !"

"इष्ट था मेरा विद्या-प्राप्ति,
साध्य करना जो रहा असाध्य,
लोक - कल्याण, शोक - निर्वाण,
सतत गुरुवर मेरे आराध्य !"

भृकुटि में बंक, अधर में कंप,
प्रताड़ित प्रेम बना विद्रोह,
क्रोध में ढह जाता है बोध,
असह प्रिय का जब बने बिछोह।

"देवयानी क्या तेरे योग्य,
शुक्र कन्या है नहीं अबोध,
बतायेगा तेरा भवितव्य,
जानती है लेना प्रतिशोध!

विप्र वटु, कायर, छली, नृशंस,
तुझे मैं देती हूं अभिशाप,
नष्ट हो तेरी सिद्धि समस्त,
लगे परित्यक्ता का परिताप।

करे जब भी, आवाहन-मंत्र,
व्यर्थ हो तेरा स्वर-संधान
योग के योग्य न हो तू कभी,
प्रतिष्ठित हो न मृतक में प्राण?"

"अकारण मुझे दिया अभिशाप,
सिद्धि करने को मेरी चूर्ण,
किन्तु क्या कोई ब्राह्मण-पुत्र,
करेगा तेरी इच्छा पूर्ण!

अन्य देवों को बता रहस्य,
प्राप्त कर लूंगा 'निज गंतव्य,
देव-कुल की रक्षा-कल्याण,
सफल साधना, सफल मंतव्य।

देव-कुल पर यदि आई आंच,
नहीं सह पाऊंगा संताप,
मुझे चिन्ता है अपनी नहीं,
तपाये मुझे तुम्हारो शाप।

स्नेह का आभारी हूं देवि!
स्नेह से स्निग्ध आज मन-प्राण,
अहर्निश तप-तप भी कल्याणि,
तुम्हारा चाहूंगा कल्याण!"

11. विराम

है यहीं स्वर्ग, अपवर्ग नरक भूतल में,
कुछ धरा नहीं अन्यत्र किसी भी स्थल में।
सुर-असुर एक कल्पना मात्र है मन की,
यह एक विभाजन-रेखा, गुण-दुर्गुण की।

कच यहीं, देवयानी भी, गुरु का आश्रम,
तप यहीं, जप यहीं, सिद्धि-साधना का क्रम।
कच ब्रह्मचर्य संकल्प-शक्ति का बल है,
कामना देवयानी का मन दुर्बल है।

जो त्याग प्रेय को श्रेय वरा करते हैं,
वे कच हैं, जो ध्रुव ध्येय धरा करते हैं।
हममें ही सुर हैं, असुर, देव-दानव भी,
है सबका मूलाधार एक मानव ही,

मानव से ऊपर श्रेष्ठ न कुछ भूतल पर,
नश्वर तन में बैठा है चिर अविनश्वर।
उस कालजयी संकल्प व्रती की जय हो,
संजीवनी सिंचित संसृति सतत अभय हो।

नव जीवन, नवचेतना देश में आये,
नव अरुणोदय की प्रभा क्षितिज पर छाये।

सजीवनी

सोहनलाल द्विवेदी

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली